हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी संघर्ष का चित्रण

डॉ. विकास विट्ठलराव कामड़ी
हिन्दी विभाग प्रमुख
सेठ केसरीमल पोरवाल कला, विज्ञान व वाणिज्य महाविद्यालय, कामठी, नागपुर (महाराष्ट्र)
ईमेल: vikaskamdi7@gmail.com
मो. 9096172293

सारांश :

हिन्दी साहित्य की अनेक विधाओं में आदिवासी जीवन, संस्कृति अैर समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। साहित्य के विविध आयामों में आदिवासी विमर्श अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा है। आदिवासियों के बारे में कहा जाता है कि, सदियों पहले आर्यों से परास्त होकर ये लोग जंगलों में खदेड़ दिए गए थे। सामूहिक ज़िंदगी जीने वाले, प्रकृति प्रेमी, प्रकृति के सहयात्री और सहयोगी आदिवासी समूह, संपत्ति की धारणा व लिंग विभेद से बिल्कुल अनजान थे। वे सदियों से जंगलों में रहकर, जंगलों के फल, कंद मूल खाकर व नदियों के पेटे में खेती करके या जंगलो में खेती करते हुए बड़े आनंद से रहते थे। स्वाभिमान सहित अपनी भाषा, संस्कृति व जीवनशैली को जिंदा रखे हुए थे। अँग्रेज़ों ने इनकी भाषाओं को लिपि दी और इन्हें पढ़ना-लिखना सिखाया। इन तथाकथित आदिम जमातों के पास लोक साहित्य का अपूर्व खजाना सुरक्षित है, जिसे पीढ़ी दर पीढ़ी इन्होंने वाचिक परंपरा में जिंदा रखा। आदिवासियों का यह संगठित सामूहिक जीवन ही है, जिसने इनके साहित्य को जिंदा ही नहीं रखा, बल्कि समयानुसार उसमें कुछ न कुछ जोड़ा भी है। आज उपन्यास, साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा सर्वाधिक लोकप्रिय हो चुका है। हिन्दी उपन्यास अब तक कई पड़ाव पार कर चुका है। इन पड़ावों में हिन्दी उपन्यास कभी मनोरंजन का माध्यम बना, तो कभी सामाजिक चेतना बनकर उभरा। उसने कभी युग जीवन के प्रश्नों, मूल्यों, संबंधों, संघर्षों को व्यक्त किया, तो कभी मानव मन के अंतर्गत दुनिया की जटिल परतों को खोलने का प्रयास किया, तो कभी आंचलिक जीवन को व्यक्त किया। समग्रतः आधुनिक हिन्दी उपन्यास का प्रमुख केंद्रीय स्वर आदिवासियों की सामाजिक यथार्थ चेतना तथा संघर्ष का ही स्वर है।

संकेत शब्द : स्वाभिमान, चेतना, संघर्ष, परंपरा, संस्कृति , सामूहिक।

आदिवासी शब्द का अर्थ :

आदिवासी विमर्श आज हिन्दी साहित्य में साथ ही विश्व की अन्य भाषाओं के साहित्य में भी एक महत्वपूर्ण विमर्श के रूप में सामने आया है। 'आदि' अर्थात 'पहला', 'आरंभ' होता है तो 'आदम' का अरबी अर्थ मनुष्य का आदि प्रजापति, मनु के समांतर होता है। आदिवासी शब्द का प्रयोग किसी भौगोलिक क्षेत्र के उन निवासियों के लिए किया जाता है, जिसका उस भौगोलिक क्षेत्र से ज्ञात इतिहास में सबसे पुराना संबंध रहा हो। आदिवासी शब्द 'आदि' और 'वासी' से मिलकर बना है जिसका अर्थ मूल निवासी होता है। आदिवासियों को कई नामों से पहचाना जाता हैं जैसे - जनजाति, आदिवासी, वनवासी, आत्विका, गिरीजन, अनुसूचित जनजाति आदि।

आदिवासी अर्थात किसी प्रदेश या राज्य के मूल निवासी। आदिवासी महाराष्ट्र, आंध्र, केरल, उत्तराखंड, झारखंड, बिहार, नागालैंड, असम, राजस्थान, मणिपुर, त्रिपुरा, पं.बंगाल आदि राज्यों में बसे हैं। बस्तर, कुल्लू,

Research Hub International Journal

कुमाऊँ, हिमाचल, विंध्याचल आदि अनेक प्रदेशों में नट, करनट, गोंड, भील, ऊरांव, कातकरी, कोल, वारली, संभाल, हो, बैंगा, चेंचु, बंजारा, मिझो, नागा, गुर्जर, खांसी, कोली, धोबी, जुआंग आदि अनेक आदिवासी जातियाँ निवास कर रही है।

आदिवासी की परिभाषा :

यू. एन. ओ. ने अपने घोषणापत्र में आदिवासी राष्ट्र को परिभाषित किया है। इसके अनुसार, ''आदिवासी राष्ट्र का तात्पर्य उन लोगों के वंशजों से है, जो किसी देश की वर्तमान भूमि के पूरे या कुछ भाग पर विश्व के अन्य भागों की किसी भिन्न संस्कृति अथवा नस्ल के लोगों द्वारा पराजित कर दिए जाने या उनके साथ किसी समझौते के तहत अथवा अन्य किसी तरह से वर्चस्वहीन अथवा औपनिवेशिक स्थिति में ढकेल दिए जाने के पहले से ही वहाँ रह रहे थे।''[1]

''आदिवासी शब्द उन समुदायों के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिन्हें भारत के राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 342 के अधीन अनुसूचित जनजातियों के तौर पर निर्दिष्ट किया है। दरअसल यह एक प्रशासनिक शब्द है कि जिससे किसी विशेष क्षेत्रीयता का संकेत मिलता है। इसका उद्देश्य किसी जनसमुदाय की विशिष्ट आनुवांशिक स्थिति से ज्यादा उसके सामाजिक आर्थिक स्थिति का परिचय देना है।''[2] वी. एन. सिंह एवं जनमेजय सिंह आदिवासी किसे कहना चाहिए ? पर लिखते हैं, ''आदिवासी का अर्थ उन जातियों से है जो प्रागैतिहासिक और आदिम जातियों से संबंधित रही हैं, जैसे - कोल, भील आदि।''

आदिवासी-साहित्य वन संस्कृति से संबंधित साहित्य है। आदिवासी साहित्य, उन वन जंगलों में रहनेवाले वंचितों का साहित्य है, जिनके प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर ही नहीं दिया गया। यह ऐसे दुर्लक्षितों का साहित्य है, जिनके आक्रोश पर मुख्यधारा की समाज व्यवस्था ने कभी कान ही नहीं धरे। यह गिरि कंदराओं में रहने वाले अन्यायग्रस्तों का क्रांति साहित्य है। सदियों से जारी क्रूर और कठोर न्याय-व्यवस्था ने, जिनकी सैकड़ों पीढ़ियों को आजीवन वनवास दिया, उस आदिम समूह का मुक्ति साहित्य है, आदिवासी साहित्य ''वनवासियों का क्षत जीवन, जिस संस्कृति की गोद में छुपा रहा, उसी संस्कृति के प्राचीन इतिहास की खोज है यह साहित्य। आदिवासी साहित्य इस भूमि से प्रसूत आदिम वेदना तथा अनुभव का शब्दरूप है।''[3] हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी संस्कृति, भाषा और परिवेश पर लिखा जा रहा है, उन पर सोचा जा रहा है, उनके संघर्ष के बारे में बहस और संवाद हो रहे।

संजीव का 'धार' उपन्यास ई. 1990 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में आदिवासियों, जनजातियों के शोषण और संघर्ष की कथा अत्यंत संवेदनात्मक रूप में कही गई है। भारत के आदिवासियों की समग्र स्थितियाँ आज़ादी के पहले जैसी थी, वैसी ही आज़ादी के बाद भी दिखाई देती है। हालांकि, भारतीय संविधान ने आदिवासियों को कई अधिकार प्रदान किए थे। ''स्वतंत्र भारत के संविधान में दलित, आदिवासी, गरीबों को आत्मसम्मान से जिनके पूरे अधिकार प्रदान किए है। फिर भी स्वार्थलिप्त भ्रष्ट लोग और सामंती प्रवृत्तियों के ठेकेदार शड़यंत्र से, बेईमानी से, कूटनीति से दलित, आदिवासी, गरीबों के आत्मसम्मान के साथ खिलवाड़ करते हुए उनकी इज़्जत को नीलाम करने की पूरी व्यवस्था करते हैं।''[4] इन्हीं विसंगतियों का चित्र आदिवासी जन जीवन पर आधारित 'धार' उपन्यास में मिलता है।

'धार' उपन्यास में बिहार के संथाल परगना में कोयले की खानों में काम करने वाले मजदूरों का चित्रण हुआ है। उपन्यास के कथानक से ही पता चलता है कि आदिवासियों की स्थिति किस प्रकार की है - ''न दिन है, न रात, दोनों की दहलीज़ पर संथाल परगना का पूरा नगा इलाका घायल गुर्राते सूअर की तरह पड़ा है। नंगी-अधनंगी

पहाड़ियाँ, जहाँ-तहाँ खड़े साल, महुए, खजूर और ताड़ के पेड़, ढेर की झाड़ियाँ, बलई बंजर धरती, सूखती नदियाँ, सूखते कुएँ, तालाब, भयंकर पोखरिया खादों जहाँ-तहाँ सोए पड़े मुर्दे से लोग। मंत्र कीलित पूरा इलाका। इंसानों को मवेशियों के रूप में हाँकते ले जा रहे हैं ठेकेदार। रामपुर हाट, चित्तरंजन, जामताड़ा, वहाँ से ट्रेन पकड़कर असम, बंगाल, बिहार या कहीं और? है कोई जानगुरु (ओझा) जो इन्हें मंत्र से शापमुक्त कर दे।''[5] उपन्यास के केंद्र में संथाल परगना का बाँसगड़ा अंचल और आदिवासी है। ये आदिवासी मजदूर पेट की आग के कारण कोयले की खदानों में काम करने जाते हैं और कभी-कभी उन्हीं खदानों में समा जाते हैं। कभी जहरीली वायु फैलने के कारण, कभी धरती के धँसने के कारण, तो कभी पानी भरने के कारण। इसके अलावा प्रस्तुत उपन्यास में पूँजीवादी व्यवस्था, बिचैलियों की कुटिलताएँ, अवैध खनन, माफिया गिरोह का आतंक, श्रमजीवियों का शोषण, आदिवासियों का जीवन आदि का भी चित्रण हुआ है।

'आदिवासी 'मैना' इस उपन्यास की केंद्रीय पात्र है। आदिवासी मैना में साहस, स्वाभिमान, सेवाभाव, अन्याय के खिलाफ विद्रोह आदि चारित्रिक विशेषताएँ मिलती हैं संथाल आदिवासी किस प्रकार भूख से बेहाल हैं इसका उद्घाटन उपन्यास की नायिका 'मैना' के माध्यम से करते हुए कहते हैं, ''धन्न मनाऊँ रेल कंपनी का कि बछड़ा बकरा कट जाता और हमको भोज खाने को मिल जाता। धन्न मनाऊँ रेलवई पुलिस का हमको सिलतोड़ी कराता, हमारा बहन-बेटी माँ के साथ रंडीबाजी करता कि हमें दू-चार पैसा भेंट जाता, धन्न मनाउँ सरदार निहालसिंह का कि हमारा चोरी हजम करके टकर से रेलवई कारखाना का कुड़ा हियाँ फेंकता कि हम लोहा-पीतल बीज-वाज के उनको बेच के पेट चलाता।''[6] इसी उपन्यास का पात्र फोकल अवैद्य कोयला खनन करते समय ज़मीन धँसने से मिट्टी के एक बड़े ढेर में अटक जाता है। गहरी चोट लगने से कहारता है और ठेकेदार को मदद करने की विनंती करता है तो वही ठेकेदार उसे कहता है, ''अरे मार दें ! अभी जिंदा ही है साला। मार के भर दे नून सब जगह।''[7] इस प्रकार ठेकेदार निर्दयी, पाशवी, स्वार्थी होते हैं जो आदिवासियों के ऊपर कई रूपों में अन्याय, अत्याचार करते हैं।

'धार' उपन्यास में आदिवासी आम आदमी की पुकार है। उनका उपन्यास दो प्रकार से क्रांति की अपेक्षा करता हैं - एक वैचारिक क्रांति और दूसरी क्रियात्मक क्रांति, सामंती व्यवस्था शोषण और सदोश व्यवस्था भी उपन्यास के केंद्र में रही है। वहीं आतंको की कहानी प्रमुख रही है। जैसे ''साथियों लाल झंडे में यह जो हँसुआ आप देख रहे है, यह सचमुच नीले आतंकों के सीने में रोशनी की कटार की तरह धँसा हुआ है। जैसे-जैसे कामयाबी हासिल होती है, हँसुआ पुष्ट होता जाता है।''[8]

उपन्यासकार ने शोषण की चक्की में पिसते आदिवासी बच्चों का चित्रण किया है। डरना मतलब मरने को माना गया है। उपन्यासकार ऐसे डरपोक आदिवासियों में वैचारिक क्रांति का संचार करते हैं। लाचार दीनहीन भिखमंगे हाथ जोड़कर खड़े रहनेवाले आदिवासी का हाथ आज उठने लगा है।

'पाँव तले की दूब' ई. 1995 में प्रकाशित संजीव का उपन्यास है। इसमें खनिज क्षेत्र के औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में गाँवों आदिवासियों के शोषण की कथा कही गई है। आदिवासी अपने पेट की आग बुझाने तथा जीवित रहने के लिए बगुले, सारस, मैनाएँ तथा लोमड़ी आदि का शिकार करने के लिए विवश होते हैं। इस उपन्यास में झारखंड के बाघमुंडी परिक्षेत्र में रहने वाले आदिवासियों का दर्दनाक चित्रण संजीव ने बड़ी बेबाकी के साथ किया है। जहाँ पर उद्योगपति नए-नए उद्योग शुरू करने के लिए पहले आदिवासी की ज़मीन हड़प लेते हैं और उन्हें पूरी तरह बेदखल करते हैं। इस संदर्भ में उपन्यास का नायक कहता है, ''उन्हें ज़मीन से बेदखल किया जा रहा है, मुआवजा भी अफ़सरों के पेट में।''[9]

'जंगल जहाँ शुरू होता है' सन 2000 में प्रकाशित संजीव का उपन्यास है। इसमें 'थारू' जनजाति के अंधविश्वास, प्रकृति, उत्पादन तथा सत्ताधरियों की दृष्ट नीति का चित्रण किया है। 'थारू' जाति और डाकुओं एवं राजनीतिज्ञों के आपसी लड़ाई को प्रदर्शित करता है। उपन्यास संकेत करता है कि जंगल हर मनुष्य में पनपता रहता है, जिससे हमारा अक्सर सामना होता रहता है। भारत-नेपाल की सीमा में स्थिति चंपारण्य जिले के मिनी चंबल नाम से कलंकित क्षेत्र के आदिवासी थारू जाति को संघर्षमय जीवन यहाँ उकेरा गया है। वहाँ स्थित आदिवासियों को बार-बार डाकुओं से लड़ना पड़ता है। प्रशासन, समाज विरोधी तत्त्व, राजनेता, पुलिस आदि से डाकुओं को पोशित किया जाता है। गहन चिंतन-मंथन से यह कचोटने वाला तथ्य रेखांकित करते हैं कि अपराधी मनोवृत्ति रक्तगत वंशगत नहीं होती, अपितु तथाकथित सभ्य सफेद पोश राजनेता, पुलिस अधिकारियों के सम्मिलित जुल्म शोषण ही अपराधी तत्वों के निर्माता हैं। वे डाकुओं से भी गए गुज़रे होते हैं।

इस उपन्यास के प्रमुख पात्र बिसराम, जोगी, श्यामदेव, मलारी आदि पुलिस, डाकू, ज़मींदार, ठेकेदार आदि से भयभीत और आतंकित हैं। पुलिस उन्हें डाकुओं के पैरासाइट मानते हैं, तो डाकू पुलिस के खबरी। इस प्रकार इन थारूओं का जीवन चारों ओर से समस्याओं से घिरा दिखाई देता है। बिसराम बेटी के मौत पर कहता है, ''हमारा तो हर तरीका से मौवत लिखल बा, बेटे जमींदार से, डाकू से, देवता पिता से भूत भवानी से, पुलिस लेखपाल से... अरे कबन सुख देखल ऐ बेटो... ई.. ई... ई...।''[10] उपन्यास में संजीव ने 'मिनी चंबल' अंचल की थारू जनजाति के तमाम विसंगतियों को प्रस्तुत किया है, जिसमें राजनीतिक अपराधीकरण और मनुष्य के अंदर होने वाला जंगल के दो महत्वपूर्ण सवाल हैं। निरापराध आदिवासी बिसराम को पुलिस मार-पीट कर अंत में उसका फर्जी इंकाउंटर करते हैं। उसके पत्नी पर पुलिस थाने में ही बलात्कार करते हैं। इस तरह संजीव ने पुलिस तथा अफ़सरशाही के बर्बर चेहरे को यथार्थ रूप में उजागर कर अपनी निर्भयता का परिचय उपन्यास द्वारा दिया है।

'अल्मा कबूतरी' ई. 2000 में प्रकाशित मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास है। 'कबूतरा' बुंदेलखंड में बसने वाली एक जाति है जिसके पास जीविकोपार्जन का कोई सम्मानजनक साधन नहीं हैं। इनके पुरुष अपराध कर्म और स्त्रियाँ देह व्यापार के लिए विवश हैं। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास अपराधी माने जाने वाली जनजाति कबूतराओं के इतिहास जंगल से जेल के सफर और संघर्ष की दास्तान है, जिसमें ममता-प्रेम, वासना, घृणा-द्वेष, संघर्ष और विद्रोह के कुरूप यथार्थ का नाटकीय ताना-बाना है। कबूतरा मर्द दारोगा पुलिस की मारपीट सहते उनके जूतों के नीचे कुचले जाते हैं। उत्पीड़न और अत्याचार सहने के कारण उनके जिस्म लोहे के हो जाते हैं, जिससे पुलिस भी घबराती है। उनका सफाया करने के लिए डाकुओं के साथ साँठ-गाँठ करके पुलिस उसकी मौत की सौदागर बन जाती हैं और मुठभेड़ के नाम पर डाकुओं के बदले कबूतरा मार गिराया जाता है। अपराधी जनजाति के रूप में समाज के हाशिए पर जीने वाले कबूतराओं के दमन-चक्र की बखिया उधेड़ता है। कबूतरी कदमबाई का यह कथन, ''हमें तो बचपन से एक सच्चाई समझाई गई है कि कबूतरी के मर्द की कोई खेती धरती नहीं होती। कुआँ तालाब पर उसका हक़ नहीं होता। फिर भी जिंदा रहना होता है। अन्न पानी चुराओं और जुआओं। बिना छत के सोने की आदत डालो। मौसमों को फतह करो।''[11] कदमबाई के बेटे को स्कूल में छात्रों और मास्टर जी द्वारा परेषान किया जाता है। क्रूर स्वभाव के मास्टर जी राणा को कोड़े से पीटते हैं। राणा उस बात को स्मृति में रखता है - ''स्कूल में खिलते फूलों के रंगों में उतरने वाला राणा बदरंग हो गया। माँ को कैसे बताए, वह पीपल पर चढ़ने लगा था, मास्टरजी ने आकर कमर पर कोड़ा मारा - साले, यह नहीं देखता कि पीपल पर देवताओं का वास होता है। स्कूल जैसे पवित्र जगह में बैठ जाने दिया तो तू हमारे देवताओं के मुँह पर नाचेगा।''[12] इस प्रकार से कबूतरा आदिवासी जाति को उच्च वर्गों द्वारा

प्रताड़ित किया जाता है।

उपन्यास का पात्र रामसिंह पढ़ा-लिखा व्यक्ति होने के कारण परंपरागत चली आई पंचायत व्यवस्था को नकारता है और कहता है - ''तुम्हारी पंचायत को मैं नहीं मानता मुखिया जी। तुम्हारे पंचों के भी दाँत हैं, जो आदमी को फाड़ते नहीं, फँसाते हैं। राणा की माँ तुम्हारी पंचायत की शिकार है। उसे बस्ती भर की मजूरिनी बना दिया।''[13] पढ़ाई-लिखाई के कारण रामसिंह परंपरागत चली आई पंचायत व्यवस्था का विरोध करता है।

रामसिंह की बेटी अल्मा को भी उच्च समाज के अत्याचारों को सहना पड़ता है। विधायक श्रीराम शास्त्री अल्मा का शारीरिक उपभोग करना चाहता है, परंतु अल्मा अपना विरोध जताती है, तब उपन्यास की पात्र संतोले बी बहू अल्मा को समझाने का प्रयास करती है, ''जवानी रहते हमने दस-दस आदमियों को खुश रखा है। तू एक में मरी जा रही है। अरी मुरख, आदमी की खुशी ही हमारी ज़िंदगी है। मरना है तुझे। कल के दिन सूरजभान के हवाले कर दे तो? नोंचकर फेंक देगा। हैवान को खुश करने भी तुझे ज़िंदगी नसीब न होगी देख, मेरी ओर देख।''[14] अतः अल्मा श्रीराम शास्त्री की रखैल बनकर जीवनयापन करती है। उच्चवर्गीय अत्याचारों ने अल्मा की ज़िंदगी का सुख-दुख, हँसना-रोना भी छीन लिया। श्रीराम शास्त्री की हत्या होने के बाद अल्मा विधायक श्रीराम शास्त्री की सीट की दावेदार बनती है। जंगल में पैदा हुई अल्मा सभ्य समाज में आकर राजनीति में प्रवेश करती है। उपन्यास की कथा गाँव से राजधानी तक का चित्रण है। जिसमें आदिवासी का सभ्य समाज के साथ संघर्ष दिखाया है।

निष्कर्ष :

आदिवासी केंद्रित औपन्यासिक कथानकों में विभिन्न आदिवासी जनजातियों की संस्कृति का यथार्थ विवेचन किया गया है। जीवन के अनेकों पहलुओं से रूबरू कराता आदिवासी लेखन संघर्ष, छल-कपट, भेदभाव, ऊँच-नीच से लोहा लेता साहित्य हैं। आदिवासी जीवन की विविधता, उनकी संस्कृति, लोकजीवन, नक्सलवाद, स्त्री शोषण, अशिक्षा, औद्योगीकरण इन सारी समस्याओं पर आदिवासी उपन्यासकारों ने आवाज़ उठाई हैं। आदिवासी संघर्ष आदिवासियों की आवाज़ हैं उसे हिन्दी उपन्यास एक चेतना देने का कार्य कर रहा है।

सन्दर्भ :

- रमणिका गुप्ता — आदिवासी अस्मिता का संकट, उद्धृत, पृ. 52
- रमणिका गुप्ता — आदिवासी कौन, पृ. 29
- विनायक तुमराम — आदिवासी साहित्य - उदगम आणि भाणि, लोकमत साहित्य यात्रा, नागपुर, 5 दिसंबर, 1982, पृ. 3
- गिरीष काषिद, (सं.) — संजीव जनधर्मी कथा शिल्पी, पृ. 86
- संजीव — धार, पृ. 41
- संजीव — धार
- संजीव — धार
- संजीव — धार
- संजीव — पाँव तले की दूब
- संजीव — जंगल जहाँ शुरू होता है

- मैत्रेयी पुष्पा अल्मा कबूतरी, पृ. 113
- मैत्रेयी पुष्पा अल्मा कबूतरी, पृ. 81
- मैत्रेयी पुष्पा अल्मा कबूतरी, पृ. 109
- मैत्रेयी पुष्पा अल्मा कबूतरी, पृ. 360

Research Hub International Journal